इकाई 23 स्वतंत्रता आंदोलन और राष्ट्रवादी साहित्य

इकाई की रूपरेखा

23.0 उद्देश्य

पिछले खण्डों में आपने सम्पूर्ण भारत में राजनीतिक गतिविधियों एवं आंदोलनों की एक लम्बी प्रक्रिया द्वारा राष्ट्रवादी विचारों के प्रसार के संबंध में जानकारी प्राप्त की । इसी प्रक्रिया में यह इकाई साहित्य के योगदान की आपको जानकारी देती है । इस इकाई के अध्ययन के बाद आप :

- विभिन्न भारतीय भाषाओं के प्रमुख साहित्यकारों के साहित्यिक योगदान से अवगत हो सकेंगे,
- इन साहित्यिक कृतियों में निहित राजनीतिक तत्वों को समझ सकेंगे, तथा
- इस राजनीतिकता के विशिष्ट लक्षणों की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे ।

23.1 प्रस्तावना

भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में साहित्य ने काफी महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है । उन्नीसवीं शताब्दी के शुरू होते ही जब राष्ट्रवादी विचार उभरने लगे और विभिन्न भारतीय भाषाओं का साहित्य अपने आधुनिक युग में प्रवेश करने लगा, तब अधिक से अधिक साहित्यकार साहित्य को देशभक्ति पूर्ण उद्देश्यों के लिए प्रयोग में लाने लगे । दरअसल इनमें से अधिकांश साहित्यकारों का यह विश्वास था कि चूँकि वे एक गुलाम देश के नागरिक हैं, अतः यह उनका कर्तव्य है कि वे इस प्रकार के साहित्य का सृजन करें जो कि उनके समाज के सर्वतोन्मुखी पुनरुत्थान में अपना योगदान देते हुए राष्ट्रीय विमुक्ति का मार्ग प्रशस्त करेगा । किसी भी मुख्य राजनीतिक दल अथवा आंदोलने द्वारा अंग्रेज़ी राज्य से विमुक्ति को अपने कार्यक्रम में शामिल करने से भी पूर्व, जबकि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस भी केवल संवैधानिक आंदोलन का ही रास्ता अपनाए हुए थी, साहित्य में पराधीनता के बोध तथा स्वतंत्रता की ज़रूरत को स्पष्ट अभिव्यक्ति मिलने लगी थी । समय बीतने के साथ जैसे ही स्वतंत्रता आंदोलन ने भारी संख्या में जनता को अपनी ओर आकृष्ट करना शुरू किया और स्वतंत्रता की मांग तीव्र होती गयी, साहित्य ने जनता के आदर्शों को बल प्रदान किया । इतना ही नहीं, देश की विमुक्ति के लिए जनसाधारण को हर प्रकार से बलिदान करने के लिए उत्प्रेरित किया । इसके अतिरिक्त, साहित्य ने राष्ट्रवादी आंदोलन तथा इसके नेताओं की कमज़ोरियों पर भी प्रकाश डाला । अगले भागों में इन दोनों पक्षों पर चर्चा की जाएगी ।

23.2 उन्नीसवीं शताब्दी का साहित्य

सभी भारतीय भाषाओं के साहित्य पर विचार करना हमारे लिए संभव नहीं होगा । सुविधा की दृष्टि से हमारी चर्चा मुख्य रूप से तीन भाषाओं : हिन्दी, गुजराती और बंगाली साहित्य तक सीमित होगी ।

हम देखेंगे कि सभी तीन भारतीय भाषाओं के साहित्य में समान भावनाओं और विचारों की अभिव्यक्ति हुई है । सभी भारतीय भाषाओं के साहित्य में यह एक असाधारण समानता है । यह समानता पूरे देश में स्वतंत्रता आंदोलन के प्रति भावनाओं एवं विचारों की व्यापक एकात्मता दर्शाती है ।

देश के विभिन्न हिस्सों में आधुनिक स्वरूप की राष्ट्रीय चेतना और राजनीतिक सम्बद्धता का उदय मुख्य रूप से उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुआ । 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना एक प्रकार से इन्हीं पूर्वकालीन घटना–चक्रों का परिणाम थी । इस दौर का और इसके बाद का साहित्य भी न केवल राष्ट्रीय चेतना से प्रभावित रहा, अपितु इसने राष्ट्रीय चेतना की दिशा और स्वरूप को भी प्रभावित किया ।

23.2.1 बंगाली

आरंभिक आधुनिक साहित्य के इतिहास में दो महान साहित्यकार सर्वोच्च स्थान रखते हैं । ये हैं—बंकिम चंद्र चट्टोपाध्याय (1838–94) और गोवर्धनराम माधवराम त्रिपाठी (1855–1907) । उपन्यासकार होने के अतिरिक्त ये दोनों ही असाधारण क्षमता वाले बुद्धिजीवी भी थे, जिन्होंने अपने समाज और देश की समस्याओं को समझना अपना लक्ष्य बना लिया था । उनके उपन्यास अपने देशवासियों में देशभक्तिपूर्ण भावनाएं जागृत करने में लगे हुए थे । उन्होंने, विशेषकर बंकिम चन्द्र ने, ऐसे निबंध भी लिखे जिन्होंने अपने पाठकों को अपने देश की मौजूदा दयनीय स्थिति के कारणों पर विचार करने के लिए बाध्य किया । बंकिम चंद्र ने बंगदर्शन नामक एक पत्रिका भी निकाली जिसका उद्देश्य, अधिक से अधिक संख्या में अपने देशवासियों को शिक्षित और उत्प्रेरित करना था । अक्सर इन निबंधों की शैली हास्यात्मक एवं व्यंग्यात्मक होती थी जो कि पाठक का मनोरंजन करते हुए उसे सोचने पर बाध्य करती थी । मनोरंजन एवं शिक्षा का यह समन्वय उपन्यासों में और भी प्रभावशाली रूप में प्रकट हुआ ।

1. बंकिम चन्द्र

यद्यपि बंकिम चंद्र ने सामाजिक उपन्यास भी लिखे, लेकिन देशभक्ति का संदेश उन्होंने मुख्यतः ऐतिहासिक प्रेमाख्यानों के माध्यम से ही प्रेषित किया । उन्होंने इतिहास एवं कल्पना का समायोजन करके ऐसे चरित्र निर्मित किए जो किसी भी प्रकार का बलिदान करने, यहां तक कि अन्याय, उत्पीड़न और पराधीनता के विरुद्ध संघर्ष में अपने प्राण तक त्याग देने के लिए हर समय तैयार रहते थे । यह समायोजन विशेष रूप से आनंदमठ (1882) में अत्यन्त प्रभावशाली रूप से सामने आया । अपने विख्यात गीत "बन्दे मातरम" के साथ "आनंदमठ" देशभक्तों की कई पीढ़ियों के लिए प्रेरणा स्रोत बन गया और ये देशभक्त और क्रांतिकारी इस उपन्यास को धर्म ग्रन्थ जैसा सम्मान देते रहे ।

बंकिम चन्द्र के राष्ट्रवाद की अवधारणा में एक प्रकार से हिन्दूवाद की ओर झुकाव था । उदाहरण के लिए आनंदमठ में जब मुस्लिम उत्पीड़कों के विरुद्ध संघर्ष दिखाया गया तब इसने मुस्लिम विरोधी भावना का रूप ग्रहण कर लिया । बंकिम चन्द्र के राष्ट्रवाद का यह पक्ष विद्वानों में घोर वाद-विवाद का विषय रहा है । यहां इस पर विस्तार से चर्चा करने की गुंजाइश नहीं है । इस संदर्भ में हमारे लिए जो महसूस करना महत्वपूर्ण है, वह यह है कि जिस प्रकार का पूर्वाग्रह हमें बंकिम के साहित्य में

मिलता है, वह केवल उन्हीं तक सीमित नहीं है । इतना ही नहीं इस प्रकार का पक्षपात उन देशभक्तों अथवा राष्ट्रवादी समूहों तक भी सीमित नहीं था जिन्हें हमारी पाठ्य पुस्तकों में पुनरुत्थानवादी अथवा धर्मपरायण राष्ट्रवादी के रूप में प्रस्तुत किया गया है । इस प्रकार का पक्षपात राष्ट्रवादियों के लगभग सभी वर्गों तक फैला हुआ था । यह भी जानना आवश्यक है कि यह पक्षपात उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में उभरे भारतीय राष्ट्रवाद की प्रमुख विचारधारा का अंग नहीं था । दूसरे शब्दों में, मुस्लिम विरोधी प्रवृत्ति बार–बार उभरी लेकिन फिर भी इस प्रवृत्ति को राष्ट्रवादी विचारधारा के अंग के रूप में जानबूझकर प्रस्तुत नहीं किया गया ।

इसका सबसे ज्वलंत उदाहरण आर. सी. दत्त (1848–1909) का है । अंग्रेज़ी शासन द्वारा देश के शोषण का शक्तिशाली रूप में पर्दाफ़ाश करने के लिए "आर्थिक राष्ट्रवाद" के एक प्रवर्तक के रूप में विख्यात आर. सी. दत्त अपनी पोशाक, आदतों और विचारों के स्तर पर पाश्चात्य रंग में रंगे हुए थे । इण्डियन सिविल सर्विस, जिस पर अंग्रेज़ों का एकाधिकार था, उसके एक सदस्य होने के नाते ऐसा स्वाभाविक ही था । लेकिन पाश्चात्य रंग में रंगे होने के बावजूद, दत्त धार्मिक रूप से ऐसे हिन्दू बने रहे जिन्हें अपनी परंपरा और संस्कृति से लगाव था । *"The Economic History of India"* के लेखक आर. सी. दत्त के व्यक्तित्व के इसी पक्ष ने उन्हें *"History of Civilization in Ancient India"* लिखने तथा **ऋग्वेद**, **रामायण** और **महाभारत** का अनुवाद करने के लिए प्रेरित किया । जैसाकि उन्होंने स्वयं कहा कि इस तरह के कृतित्व की प्रेरणा उन्हें उनकी "साहित्यिक देशभक्ति" से मिली थी । अपने प्रथम चार उपन्यासों, जो कि सभी ऐतिहासिक प्रेमाख्यान हैं, के चुनाव के पीछे दत्त की अपनी इसी "साहित्यिक देशभक्ति" का प्रभाव था ।

भले ही आज के परिप्रेक्ष्य में भारतीय राष्ट्रवाद के विकास में दत्त की साहित्यिक कृतियों की भूमिका भुला दी गयी हो लेकिन उनके जीवनकाल तथा उसके कुछ दिनों बाद तक भी इन कृतियों ने बंगाल तथा देश के अन्य भागों के लोगों को उतना ही प्रभावित किया जितना कि उनकी अर्थशास्त्र संबंधी कुछ कृतियों ने । इस तरह दत्त के आर्थिक राष्ट्रवाद का यह एक सांस्कृतिक पक्ष है । दरअसल, सांस्कृतिक राष्ट्रवाद और आर्थिक राष्ट्रवाद का अंतर ही एक कृत्रिम तथा स्वरचित अंतर है । विश्व के अन्य हिस्सों में राष्ट्रवाद की भांति ही, भारतीय राष्ट्रवाद एक व्यापक शक्ति थी जो कि लोगों को कई स्तरों पर आकृष्ट कर रही थी । इसने लोगों के आदर्शवाद तथा भौतिक हितों, दोनों को ही प्रभावित किया । इसी प्रक्रिया में, राष्ट्रवाद ने लोगों के जीवन के विभिन्न पक्षों को प्रभावित किया जैसे, सामाजिक प्राणी के रूप में उनका अस्तित्व, व्यावसायिक वर्ग अथवा आर्थिक वर्ग के सदस्यों के रूप में उनकी पहचान, धर्म, जाति अथवा उप–जाति के सदस्य के रूप में उनकी पहचान, भाषाई वर्ग या क्षेत्र के रूप में, अथवा स्त्री या पुरुष के रूप में उनकी पहचान को प्रभावित किया ।

दत्त के ऐतिहासिक उपन्यासों या प्रेमाख्यानों में मुस्लिम विरोधी प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति स्पष्ट दिखायी देती है । ऐसा प्रतीत होता है कि समय की गति के साथ दत्त ने राष्ट्रवाद की अवधारणा के उस राजनीतिक खतरे को भांप लिया था जिसमें भारत के अतीत के उस भाग को उजागर किया जाता रहा जिसमें हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच टकराव शामिल था । शायद इसीलिए दत्त बाद में इस तरह के ऐतिहासिक उपन्यासों के स्थान पर सामाजिक उपन्यासों पर ज़ोर देने लगे । लेकिन इस परिवर्तित समझ के बावजूद भी जब उन्होंने अपने सामाजिक उपन्यास **"समाज"** (1893) में प्राचीन भारतीय अतीत को आदर्श रूप में प्रस्तुत किया तो बिना किसी संकोच के उन्होंने ऐसे भारतीय राष्ट्र-वाद का चित्रण किया जो हिन्दुओं पर केंद्रित था । इसका तात्पर्य यह नहीं है कि दत्त साम्प्रदायवादी थे । यहां उन्हें उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत करने का उद्देश्य इस तथ्य को प्रकाश में लाना है कि उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध के औपनिवेशिक भारत की परिस्थिति में भारतीय राष्ट्रवाद में ऐसी संभावनाएं निहित थीं जो अन्य राजनीतिक–आर्थिक कारणों के परिणामस्वरूप सांप्रदायिक प्रवृत्तियों को जन्म दे सकती थीं । इसका अर्थ यह हुआ कि महानतम् लेखकों को भी मात्र एक व्यक्ति के रूप में नहीं बल्कि उनके समय की प्रवृत्तियों एवं शक्तियों को अभिव्यक्ति देने वाले प्रतिनिधि व्यक्तियों के रूप में देखा एवं समझा जाना चाहिए । इसीलिए बंकिम और दत्त के व्यक्तित्वों में विषमता होते हुए भी, दोनों के कृतित्व में समानता दिखायी देती है ।

भारतीय राष्ट्रवाद के इस पक्ष पर विस्तारपूर्वक चर्चा इसलिए की गयी है क्योंकि यह हमें तभी दृष्टिगोचर हो सकता है, जब हम इसे समकालीन साहित्य के संदर्भ में समझें । यह वह पक्ष है जो सामान्य पाठ्य पुस्तकों में प्रस्तुत किए जाने वाले भारतीय राष्ट्रवाद के चित्र से मेल नहीं खाता । इन पाठ्य पुस्तकों में भारतीय राष्ट्रवाद स्पष्ट रूप से धर्मनिरपेक्ष एवं सांप्रदायिक (अथवा धार्मिक), आर्थिक और सांस्कृतिक तथा नरम दल एवं गरम दल के बीच विभाजित दिखायी देता है । भारतीय राष्ट्रवाद की इस रूढ़िबद्ध छवि को बदलने और इसे समग्र रूप में देखे जाने की आवश्यकता है, यद्यपि यह समग्रता जटिल अवश्य है ।

23.2.2 गुजराती

आइए, अब हम आधुनिक गुजराती साहित्य के निर्माता गोवर्धनराम त्रिपाठी के विषय में चर्चा करें, जिन्होंने अपने विख्यात उपन्यास **'सरस्वतीचंद्र'** के चार भाग लगभग चौदह वर्ष के समय (1887–1901) में लिखे । गुजरात के पढ़ने-लिखने वाले वर्ग को देश की नियति के प्रति प्रेरित करने के उद्देश्य से गद्य रूप में रचित यह महाकाव्य **'सरस्वतीचंद्र'** देश की गुलामी की बहुमुखी समस्याओं और उनसे जूझने के लिए संभावित कार्यनीति से संबंधित है । उपन्यास में भारत द्वारा आज़ादी खो देने पर गहरा दुख प्रकट किया गया है । किन्तु साथ ही इस तथ्य पर संतोष भी प्रदर्शित किया गया है कि इस देश पर राज करने वाले कोई अन्य नहीं, अंग्रेज़ ही हैं । अंग्रेज़ अपने स्वाभाविक न्याय बोध तथा लोकतंत्र के लिए अपने प्रेम के कारण भारत को स्वशासन योग्य बना देंगे । यद्यपि गोवर्धनराम ने अंग्रेज़ी न्याय में अपना विश्वास व्यक्त किया किन्तु साथ ही उन्होंने इस बात पर भी बल दिया कि यदि भारतीयों ने स्वयं अपने हितों की ओर ध्यान नहीं दिया तो अंग्रेज़ भी भारतीयों के कल्याण की पूरी तरह उपेक्षा करने लगेंगे ।

आज हमें यह आश्चर्यपूर्ण लग सकता है कि भारतीयों ने अंग्रेज़ी राज्य में इस प्रकार विश्वास प्रकट किया तथापि यह विश्वास औपनिवेशिक संबंध की ओर भारतीयों के रवैये का एक आवश्यक अंग था । दरअसल इस रवैये के तहत यहां तक कहा गया कि यह ईश्वर की इच्छा थी जिसने भारत को अंग्रेज़ी संरक्षण प्रदान किया । एक प्रकार से हम सभी इस रवैये में कहीं न कहीं से भागीदार हैं, उदाहरणस्वरूप आधुनिक भारत को बनाने में अंग्रेज़ों के, विशेष रूप से अंग्रेज़ी-शिक्षा के प्रभाव का हम अनुमोदन करते हैं । यह विडंबना ही है कि भारतीय राष्ट्रवाद का उत्थान भी काफ़ी हद तक पाश्चात्य प्रभाव की देन के रूप में देखा जाता रहा है । ऐसी परिस्थिति में हमारे लिए यह समझना कठिन नहीं होना चाहिए कि अंग्रेज़ी राज्य के शोषण के प्रति सजग होते हुए भी हमारे आरंभिक राष्ट्रवादियों ने उसका स्वागत किया ।

चर्चा के इस बिन्दु पर पहुंचकर उपयुक्त यह होगा कि हम अंग्रेज़ी राज्य के प्रति इस दोहरे रवैये का प्रतिबिंबन उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध के भारतीय साहित्य में देखें । चर्चा का आरंभ हम विष्णु-कृष्ण चिपलूणकर (1850–82) के एक महत्वपूर्ण वक्तव्य के साथ कर सकते हैं । अंग्रेज़ी राज्य पर टिप्पणी करते हुए उन्होंने अपनी निबंधमाला में लिखा कि अंग्रेज़ी शिक्षा प्राप्त भारतीय किस प्रकार उससे प्रभावित हुए थे । उन्होंने लिखा, "अंग्रेज़ी कविता द्वारा रौंदी गयी हमारी स्वतंत्रता तबाह हो चुकी है" । इस टिप्पणी में "अंग्रेज़ी कविता" का अर्थ था अंग्रेज़ी शिक्षा तथा वे सभी बौद्धिक प्रभाव जिनके द्वारा भारतीयों में यह भावना पैदा की जा रही थी कि अंग्रेज़ी शासन उनके कल्याण के लिए तथा ईश्वरीय विधान का परिणाम था । चिपलूणकर के पास, भारत पर अंग्रेज़ी शासन के इस सूक्ष्म तथा अदृश्य पक्ष को समझने की अंतर्दृष्टि थी । "ईश्वरीय विधान" में यह विश्वास इतना मजबूत था कि अपनी गहरी अंतर्दृष्टि के बावज़ूद स्वयं चिपलूणकर भी इसमें विश्वास दिखाते रहे और भारत में अंग्रेज़ी औपनिवेशिक संबंध के परिणामस्वरूप भारत के लाभान्वित होने का गुणगान करते रहे और ये विचार कहीं और नहीं बल्कि उसी निबन्ध में देखने को मिल जाते हैं जिसमें उन्होंने अंग्रेज़ी कविता (अंग्रेज़ी शिक्षा) द्वारा भारतीय स्वतंत्रता के नष्ट होने की बात की थी ।

इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए कि जो अंतर्दृष्टि चिपलूणकर ने सौ वर्ष पूर्व दी थी, आज भी जबकि हम आज़ादी के चालीस वर्ष पूरे कर चुके हैं, आसानी से हमारे गले नहीं उतरती । यहां यह बताना अभीष्ट है कि अंग्रेज़ी शासन के प्रति भारतीयों का दोहरा विरोधाभासपूर्ण रवैया था ।

23.2.3 हिन्दी

आइए, अब हम हिन्दी साहित्य की चर्चा करें और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (1850–85) के बारे में जानकारी प्राप्त करें जो हिन्दी साहित्य में आधुनिक युग के प्रमुख प्रवर्तक रहे हैं । अपनी असामयिक मृत्यु के बावज़ूद भारतेन्दु ने काफ़ी मात्रा में साहित्य का सृजन किया और विभिन्न साहित्यिक विधाओं जैसे कविता, नाटक और निबंध आदि विधाओं में लिखा । अपने देश और समाज की स्थिति से लोगों को अवगत कराने के लिए उन्होंने कई पत्रिकाएं निकालीं । भारतेन्दु द्वारा रचित साहित्य का एक बड़ा भाग पराधीनता के प्रश्न से संबंधित है । उदाहरण के लिए 1877 में हिन्दी के प्रसार से संबंधित अपने एक भाषण में उन्होंने जन साधारण से निम्न मार्मिक प्रश्न किए :
"यह कैसे सम्भव हो सका कि इन्सान होते हुए भी हम तो दास बन गए और वे (अंग्रेज़) राजा ?"

2. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

यह एक ऐसा प्रश्न था जिसने भारत की राजनीतिक स्थिति के मर्म को छू लिया और यह प्रश्न इतने सरल और मार्मिक ढंग से उठाया गया था कि सामान्य स्त्री-पुरुष भी इसे पूरी तरह समझ सकें। किन्तु साथ ही यह ऐसा प्रश्न था जिसने जनता में अपने सर्वशक्तिमान राजाओं के समक्ष नपुंसकता का भाव जगाया। इस भावना को दूर करने के लिए भारतेन्दु ने दूसरा प्रश्न पूछकर उन्हें प्रेरणा दी। उन्होंने पूछा, "दास की भांति कब तक तुम इन दुखों को झेलते रहोगे" (कब लौ दुख सहि हौ सबै रहि हौ बने गुलाम) अपने इसी भाषण में उन्होंने लोगों को देश की मुक्ति के लिए विदेशियों पर निर्भर रहने की अशक्तकारी प्रवृत्ति के विरुद्ध चेतावनी दी। उन्होंने लोगों को प्रेरणा दी कि आपसी मतभेद और भय दूर करके अपनी भाषा, धर्म, संस्कृति और देश की गरिमा की रक्षा करें। यहां यह बताना आवश्यक है कि यह भाषण ऐसी सीधी सरल कविता के रूप में दिया गया था जो अपने श्रोताओं और पाठकों के हृदय को छू सके।

इस प्रकार भारतेन्दु ने देशभक्ति का संदेश लोगों तक पहुंचाने के लिए कविता का [illegible]। उन्होंने इसके लिए प्रचलित पद्य तथा [illegible] साहित्यिक विधाओं का भी उपयोग किया। उदाहरण के लिए उन्होंने ऐसे भजन भी लिखे जिनका उद्देश्य देश की [illegible] का चित्रण करना था। इस तरीके से वे अपने संदेश को ज्यादा बड़े क्षेत्र में फैला सकें। उन्होंने अपने समकालीन साहित्यकारों को लोक साहित्य की विधाओं के इस्तेमाल की भी सलाह दी। विकास की यह ऐसी प्रक्रिया थी जिसकी चरम परिणति उस समय हुई जब स्वतंत्रता आंदोलन ज़ोरों पर था। उसी दौरान ऐसे लोकप्रिय गीत लिखे जाते थे और प्रभात फेरियों एवं जन-सभाओं में गाये जाते थे। भारत में अंग्रेज़ी सरकार इनमें से कई गीतों पर प्रतिबंध लगाने के लिए बाध्य हुई लेकिन उन्हें इसमें अधिक सफलता नहीं मिली।

इस प्रकार की रचनाओं का एक लाभ यह भी हुआ कि विदेशी शासन की असलियत को ऐसी भाषा में पेश किया गया जिसे लाखों अशिक्षित भारतीय भी तुरंत समझ सकें और उससे प्रेरणा प्राप्त कर सकें । भारत में अंग्रेज़ों की मौजूदगी का अर्थ जानने के लिए अर्थ-व्यवस्था की बारीकियों और साम्राज्यवाद के सिद्धांतों को समझना आवश्यक नहीं था । इसे कुछ उदाहरणों से स्पष्ट किया जा सकता है । हम जानते हैं कि अंग्रेज़ी शासन की राष्ट्रवादियों द्वारा की गयी आलोचना की एक महत्वपूर्ण मद थी—भारतीय "धन की लूट" । यह ऐसा मुद्दा था जिस पर भयंकर विवाद हुआ । और यह विवाद अक्सर ऐसी भाषा में किया जाता था और इस प्रकार के तथ्य और आंकड़े दिये जाते थे जिनका समझना आसान नहीं था । फिर भी थोड़े ही समय में "लूट" ऐसा तथ्य बन गया जिसे समझने में लोगों को अधिक कठिनाई नहीं होती थी । "लूट" शब्द को जनता तक पहुँचाने में साहित्य ने एक महत्वपूर्ण भूमिका निभायी । हिन्दी के प्रसार पर अपने भाषण में भारतेन्दु ने "लूट" को विदेशी शासन की मूल बुराई और विदेशी शासन के अस्तित्व का मूल कारण बताया । रोज़मर्रा की भाषा में उन्होंने इस बात को इस प्रकार व्यक्त किया :

कल के कल बल छलन सों छले इते के लोग,
नित नित धन सों घटत है बढ़त है दुःख सोग ।।
मारकीन मलमल बिना चलत कछू नहिं काम
परदेसी जुलहान के मानहु भये गुलाम ।।

भारतेन्दु ने, मान्चेस्टर में शक्तिशाली औद्योगिक हितों को व्यक्त करने के लिए एक सामान्य शब्द "परदेसी जुलाहे" का इस्तेमाल किया । और यह बताया कि पराधीन भारत के सामान्य स्त्री-पुरुष के जीवन पर साम्राज्यवाद की शक्तियों का कितना गहरा प्रभाव पड़ रहा है । ब्रिटेन और भारत के बीच शोषक और शोषित के संबंध को उन्होंने दो जाने-पहचाने प्रतीकों "मान्चेस्टर" और "लूट" के द्वारा स्पष्ट किया । इस प्रकार वे इस संबंध की कठोर यथार्थता को "मुकरी" में व्यक्त कर सके । मुकरी एक परंपरागत काव्य विधा है जिसमें चार पंक्तियां होती हैं । भारतेन्दु ने जिसे बड़े मार्मिक ढंग से "आधुनिक युग के लिए मुकरी" के रूप में वर्णित किया है, उसमें उन्होंने "लूट" की निम्नलिखित व्याख्या दी है :

भीतर भीतर सब रस चूसै ।
हंसि हंसि के तन-मन-धन मूसै ।
जाहिर बातन में अति तेज ।
क्यों सखि साजन नहिं अँगरेज ।

लोक विधाओं का चयन केवल कविता तक ही सीमित नहीं था । भारतेन्दु ने अपने कुछ नाटकों में भी अपने समय की प्रचलित विधाओं एवं कथाओं का उपयोग किया । उदाहरणस्वरूप "अंधेर नगरी चौपट राजा" में उन्होंने अंग्रेज़ी शासन के निरंकुश और उत्पीड़नकारी चरित्र का चित्रण करने के लिए एक ऐसी लोक कथा का उपयोग किया जो देश के विभिन्न भागों में सामान्य रूप से प्रचलित थी । इस कथा में राजनीतिक संदेश तो स्पष्ट रूप में मिलता ही है, पाठक का मनोरंजन भी होता है । राजनीतिक उद्देश्यों के लिए हास्य-व्यंग्य का कारगर प्रयोग भारतेन्दु की रचनाओं में मिलता है । अपनी गंभीर कृतियों में भी भारतेन्दु ने पाठकों का भरपूर मनोरंजन किया है । 'भारत दुर्दशा' (1880) में जो कि उनका एक सीधा सच्चा राजनीतिक नाटक है, भारतेन्दु ने कई हास्यप्रद दृश्यों और संवादों को शामिल किया है ।

हिन्दी के प्रसार पर दिये गये अपने भाषण में देश की पराधीनता के विषय में भारतेन्दु ने जो कुछ भी कहा वह उनकी कृतियों में बार-बार उभर कर सामने आता है । किन्तु इसके साथ-साथ ही अक्सर वे अंग्रेज़ी शासन की मुक्तकंठ से प्रशंसा भी करते जाते हैं । इस प्रकार सशक्त देशभक्ति-पूर्ण स्वर के बावजूद 'भारत दुर्दशा' में भारतेन्दु यह भी कहते हैं कि अंग्रेज़ी शासन की स्थापना से देश को नवजीवन मिला है । इसी प्रकार अपने एक अन्य नाटक "भारत जननी" (1877) में भारतेन्दु स्वीकार करते हैं कि यदि अंग्रेज़ भारत पर शासन करने न आते तो देश का निरन्तर विनाश होता रहता ।

(मंगलाचरण)

बिधि दुख सागर में डूबत धाइ उबारो नाथ ।।

(नेपथ्य में गंभीर और कठोर स्वर से)

अब भी तुझको अपने माथ का भरोसा है ! खड़ा रह ! अभी मैंने तेरी आशा की जड़ न खोद डाली तो मे… नाम नहीं ।

भारत — (डरता और कांपता हुआ रोकर) यह विकराल बदन कौन मुंह बाए मेरी ओर दौड़ता आता है ? हाय-हाय इससे कैसे बचेंगे ? अरे यह मेरा एक ही कौर कर जायगा ! हाय ! परमेश्वर बै… में और राजराजेश्वरी सात समुद्र पार, अब मेरी … दशा होगी ? हाय अब मेरे प्राण कौन बचावेगा ? कोई उपाय नहीं । अब मरा, अब मरा । (मूर्छा खा… गिरता है)

(निर्लज्जता आती है)

निर्लज्जता — मेरे आछत तुमको अपने … की फिक्र । छि : छि : ! जीओगे तो भीख माँग खा… प्राण देना तो कायरों का काम है । क्या हुआ … धनमान सब गया 'एक जिंदगी हजार नेआमत …' (देखकर) अरे सचमुच बेहो… तो उठा ले चलें । नहीं नहीं मुझसे … (नेपथ्य की ओर) आशा ! आशा !

(आशा …

और क्या । काशी जी दूसरे … कहै शहर के अंदेशे से । अरे 'कोउ नृप होउ हमें का हानी, चेरि छाँड़ नहिं होउब रानी ।' आनंद से जन्म बिताना । 'अजगर करै न चाकरी, पंछी करै न काम । दास मलूका कह गए, सबके दाता राम ।।' 'जो पढ़तव्यं सो मरतव्यं, जो न पढ़तव्यं सो भी मरतव्यं, तब फिर दंतकटाकट किं कर्तव्यं ?' भई जात में ब्राह्मण, धर्म में वैरागी, रोजगार में सूद और दिल्लगी में गप्प … अच्छी । घर बैठे जन्म बिताना, न कहीं … अपना सब खाना, हगना, मू… बनाना, तान मारना और मस्त रहना … पर और क्या सुरखाब का पर होता है, जो … करे यहाँ अमीर । 'तवंगरी बदिलस्त न …' दोई तो मस्त है या मालमस्त या हाल…

(भारतदुर्दैव को देखकर उसके …) महाराज …

तीसरा अंक

स्थान — मैदान

(फौज के डेरे दिखाई पड़ते हैं ! भारतदुर्दैव …

भारतदु. — कहां गया भारत मूर्ख ! … अब भी परमेश्वर और राजराजेश्वरी का भरोसा … है ! देखो तो अभी इसकी क्या क्या दुर्दशा होती है …

भारतदु. — आज्ञा क्या है, भारत को चारों ओर से घेर लो ।

रोग — महाराज ! भारत तो अब मेरे प्रवेशमात्र से मर जायगा । घेरने का कौन काम है ? धन्वंतरि और काशिराज दिवोदास का अब समय नहीं है । और न सुश्रुत, वाग्भट्ट, चरक ही हैं । वैदगी अब केवल जीविका के हेतु बची है । काल के बल से औषधों के गुणों और लोगों की प्रकृति में भी भेद पड़ गया । बस अब हमें कौन जीतेगा और फिर हम ऐसी सेना भेजेंगे जिनका भारतवासियों ने कभी नाम तो सुना ही न …गा ; तब भला वे उसका प्रतिकार क्या करेंगे ! हम भेजेंगे विस्फोटक, हैजा, डेंगू, अपाप्लेक्सी । भला इनको हिंद लोग क्या रोकेंगे ? ये किधर से चढ़ाई करते हैं और कैसे लड़ते हैं जानेंगे तो हई नहीं, फिर …टी हुई वरंच महाराज, इन्हीं से मारे जायंगे और इन्हीं … देवता करके पूजेंगे, यहां तक कि मेरे … इसी विस्फोटक …

दूसरा अंक

स्थान — श्मशान, टूटे-फूटे मंदिर … कौआ, कुत्ता, स्यार घूमते हुए, अस्थि इधर-उधर पड़ी है ।

(भारत का प्रवेश)

भारत — हा ! यह वही भूमि है जहां साक्षात भगवान श्रीकृष्णचंद्र के दूतत्व करने पर भी वीरोत्तम दुर्योधन ने कहा था, 'सूच्यग्रं नैव दास्यामि बिना युद्धेन …' और आज हम उसी को … कि श्मशान हो … अरे यहां … सब कहां … बिना मेरा … कोई शरण

3. 'भारत दुर्दशा' के कुछ अंश

यहां यह ध्यान देने योग्य बात है कि अंग्रेज़ों के प्रति यह दोहरा रवैया केवल चिपूलणकर अथवा भारतेन्दु का ही नहीं था । ये केवल ऐसे उदाहरण मात्र हैं जो बताते हैं कि आमतौर पर पश्चिम और विशेषकर अंग्रेज़ी शासन के प्रति आम शिक्षित भारतीय की प्रतिक्रिया क्या थी । समय गुज़रने के साथ-साथ पराधीनता और इसके विनाशकारी परिणाम उनके समक्ष स्पष्ट हो चुके थे और भारत में अंग्रेज़ों की उपस्थिति को वरदान मानने की प्रवृत्ति तेज़ी से घटने लगी थी । तथापि यह प्रवृत्ति भारतीयों में पूरी तरह समाप्त न हो सकी । जैसाकि हमने पिछले पृष्ठों में देखा, यह रवैया आज, हमारे दौर में भी मौजूद है ।

बोध प्रश्न 1

1) निम्नलिखित में से कौन से कथन सही (√) हैं और कौन से ग़लत (×)?
   - i) आज़ादी की ज़रूरत की अभिव्यक्ति राजनीतिक संगठनों से भी पहले साहित्य में होने लगी थी । ☐
   - ii) बंकिम चन्द्र के ऐतिहासिक उपन्यासों में हिन्दू समर्थक प्रवृत्ति देखने को मिलती है । ☐
   - iii) भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपनी कृतियों में अंग्रेज़ी राज्य की प्रशंसा की । ☐
   - iv) उन्नीसवीं शताब्दी के साहित्य ने अंग्रेज़ी शासन के प्रति दोहरा रवैया अपनाया है । ☐

2) निम्न प्रश्नों के उत्तर लिखें :
   - i) बंगदर्शन पत्रिका किसने निकाली ?

     ....

   - ii) किस वर्ष बंकिम ने 'आनंदमठ' उपन्यास लिखा ?

     ....

   - iii) "आर्थिक राष्ट्रवाद" के प्रवर्तक के रूप मे कौन जाना जाता है ?

     ....

   - iv) 'अंधेर नगरी चौपट राजा' नाटक किसने लिखा है ?

     ....

3) निम्नलिखित के पाठ के अनुसार जोड़े बनाइए :

i)	अ) आनन्दमठ	अ) साहित्यिक देशभक्ति
ii)	ब) भारत दुर्दशा	ब) मुकरी
iii)	स) आर.सी. दत्त	स) राजनीतिक नाटक
iv)	द) भारतेन्दु हरिश्चंद्र	द) ऐतिहासिक प्रेमाख्यान

23.3 वीसवीं शताब्दी का साहित्य

प्रथम विश्व युद्ध (1914-18) और रूसी क्रांति (1917) के आसपास आज़ादी एवं पराधीनता के प्रति वैचारिक रवैया आम तौर पर वही था जो कि उन्नीसवीं शताब्दी के आख़िरी दशकों के दौरान उभरा था । आज़ादी को एक ऐसी प्राकृतिक स्थिति के रूप में देखा गया जिसकी आकांक्षा देश के हर व्यक्ति को होनी चाहिए । भारत भी इस नियम का अपवाद नहीं था । विशिष्ट शिकायतों और विशिष्ट रियायतों के स्थान पर समय गुज़रने के साथ-साथ समग्र अंग्रेज़ शासन की आलोचना की जा रही थी और उसका एकमात्र समाधान था आज़ादी । लेकिन इस आज़ादी का क्या अर्थ है, यह प्रश्न वास्तव मे इस लम्बे अर्से में होने वाली चर्चा का प्रमुख विषय नहीं बन सका था । ऐसा नहीं है कि 1914-18 के युद्ध से पूर्व भारतीय साहित्य में केवल अंग्रेज़ों द्वारा किये गये शोषण का ही उल्लेख किया गया बल्कि भारतीय समाज में विद्यमान निर्धनता और शोषण संबंधी समस्याएं भी परिलक्षित होती थीं । अक्सर साहित्यकारों ने इन मुद्दों को उठाया । किसानों की ग़रीबी के मार्मिक विवरण प्रायः इस दौर के साहित्य में मिलते हैं । इन उदाहरणों में सम्भवतः सबसे मार्मिक उदाहरण आधुनिक उड़िया साहित्य के पिता फकीरमोहन सेनापति का उपन्यास 'छ माण आठगुण्ठ' (1897) (छः बीघा ज़मीन) है । कभी-कभी इन मार्मिक वर्णनों में भारतीय समाज के मौजूदा ढांचे के संबंध में परिवर्तनवादी वक्तव्य देखने को मिलते हैं, उदाहरण के लिए, प्रमुख हिन्दी साहित्यकार राधाचरण गोस्वामी (1859-1925) गांवों की ग़रीबी से इतने विचलित हुए कि 1883 के आरंभ में ही उन्होंने सलाह दी कि ज़मीन सरकार अथवा ज़मींदार की नहीं बल्कि उन किसानों की होनी चाहिए जो इसे जोतते हैं । इस

प्रकार का परिवर्तनवाद केवल भावनात्मक स्तर तक ही सीमित रहा । इसे सामाजिक पुनर्गठन की सोची-समझी योजना के एक अंश के रूप में प्रस्तुत नहीं किया गया और न ही राष्ट्रीय स्वाधीनता के प्रश्न से इसे जोड़ा गया । भारतीय समाज की आर्थिक असमानता और शोषण के अतिरिक्त सामाजिक असमानता एवं जाति के आधार पर उत्पीड़न की चर्चा भी कभी-कभी की जाती रही । इसमें भी भावुकता का ही तत्व था ।

प्रथम विश्व युद्ध के बाद परिस्थितियां तेज़ी से बदलीं । अब मुद्दा केवल भारत की स्वतंत्रता का नहीं रहा । वह तो किसी भी क़ीमत पर लेनी ही थी । अब स्वाधीनता का मूल अर्थ और मुख्य तथ्य चर्चा का मुख्य आधार बन गये और "आज़ादी किसके लिए" जैसे प्रश्न उठने लगे । निश्चय ही स्वाधीनता का अर्थ अब केवल यही नहीं था कि अंग्रेज़ों का स्थान भारतीय ले लें । जैसे कि प्रेमचंद की एक कहानी "आहुति" में रूपमति कहती है, "कम से कम मेरे लिए तो स्वराज का यह अर्थ नहीं है कि जॉन की जगह गोविन्द बैठ जाए" । वह प्रश्न उठाती है कि "जिन बुराइयों को दूर करने के लिए आज हम प्राणों को हथेली पर लिये हुए हैं, उन्हीं बुराइयों को क्या प्रजा इसलिये सिर चढ़ाएगी कि वे विदेशी नहीं, स्वदेशी हैं" ? उसकी मांग स्पष्ट है, वह कहती है, "अगर स्वराज आने पर भी संपत्ति का यही प्रभुत्व रहे और पढ़ा लिखा समाज यों ही स्वार्थान्ध बना रहे तो मैं कहूंगी, ऐसे स्वराज का न आना ही अच्छा" ।

4. प्रेमचन्द

स्वतंत्रता संग्राम के अंतिम तीस वर्षों के दौरान भारतीय साहित्य ने निरंतर यह महत्वपूर्ण प्रश्न उठाया कि आज़ादी का बुनियादी उद्देश्य क्या होगा । इस तरह साहित्य अधिक से अधिक स्वतंत्रता संग्राम के वैचारिक पक्ष की ओर लगातार बढ़ता गया । परिणामस्वरूप, साहित्य में न केवल स्वाधीन भारत के स्वरूप को चर्चा का विषय बनाया गया बल्कि स्वतंत्रता आंदोलन जिस प्रकार का रुख़ अपना रहा था उसका भी ध्यान रखा गया । यदि देश की स्वतंत्रता प्राप्ति के उपरान्त एक विशेष प्रकार के समाज का गठन करना अभीष्ठ था तो आंदोलन के आदर्श और उसकी वास्तविकता को अनदेखा नहीं किया जा सकता था जो कई भागों में बंटा हुआ था और जिसके विभिन्न नेता थे । यदि आंदोलन के कार्यक्रम आदर्श न होते तथा नेता सही प्रकार के नहीं होते तो वांछित स्वतंत्र भारत प्राप्त करना असंभव होता । प्रेमचन्द के उपन्यास 'ग़बन' (1931) में इस कथन से चिंता का महत्व उजागर किया गया है । देवीदीन जो एक साधारण व्यक्ति होते हुए भी पक्का राष्ट्रवादी है, नेताओं से कहता है, "अभी जब तुम्हारा राज नहीं है, तब तो तुम भोग–विलास पर इतना मरते हो । जब तुम्हारा राज हो जायेगा तब तो तुम ग़रीबों को पीस कर पी जाओगे ।"

हिन्दी उर्दू के महान उपन्यासकार एवं पक्के राष्ट्रवादी, प्रेमचंद (1880-1936) ने अपनी रचनाओं में संघर्ष के उस दुखद पक्ष पर भारी चिंता व्यक्त की है जो उनके दो मुख्य उपन्यासों, रंगभूमि (1925) और कर्मभूमि (1932) में शिक्षित राष्ट्रवादी नेताओं की प्रच्छन्न स्वार्थपरता का स्पष्ट रूप से पर्दाफ़ाश किया गया है । लेकिन यह ऐसी स्वार्थपरता है जो मानवतावाद और राजनीतिक अतिवाद के पीछे छिपी हुई है । यह पर्दा इतना मोटा है कि स्वयं नेतागण इस भ्रम का शिकार हैं कि वे जो कुछ भी कर रहे हैं, वह देश और जनता के हित में है । यहां तक कि शासकों के साथ उनके समझौते और गुप्त व्यवहार भी राष्ट्रीय आंदोलन के हित में हैं । लेकिन राष्ट्रवादी राजनीति का सबसे अधिक निराशाजनक मत 'गोदान' (1936) में परिलक्षित होता है जो प्रेमचंद की उत्कृष्ट कृति तथा भारत के महानतम् उपन्यासों में से एक है । 'रंगभूमि' तथा 'कर्मभूमि' में राष्ट्रवादी पात्र अपनी तमाम दुर्बलताओं के बावजूद अंततः शहीदों के रूप में दिखाये गये हैं । वे अपनी कमज़ोरियों को महसूस करते हैं और उन्हें दूर करने की कोशिश करते हैं । 'रंगभूमि' का नायक सूरदास, जो अंधा है और महात्मा गांधी का प्रतिरूप है, राष्ट्रवादी राजनीति और नेताओं का प्रतीक है, जिसके लिए प्रेमचंद सम्मान एवं प्रशंसा के भाव रखते हैं । 'गोदान' में इस प्रकार की आशावादिता के लक्षण देखने को नहीं मिलते । कम से कम तीन पात्रों, राय साहब, खन्ना और पंडित ओंकारनाथ के माध्यम से राष्ट्र-वादी राजनीति में धन और क्षुद्र भौतिक लाभ की भूमिका को दर्शाया गया है । राय साहब जो कि एक धनी ज़मींदार हैं, सत्याग्रह में शामिल होते हैं और विधान परिषद् की राजनीति की ओर लौट जाते हैं तथा बेइमानी से उद्देश्य पूर्ति के लिए धन का उपयोग करते हैं । इसी प्रकार खन्ना जो कि एक साथ महाजन, व्यापारी और छोटे उद्योगपति हैं, सविनय अवज्ञा आंदोलन में कुछ समय के लिए भाग लेकर फिर ऐसे तरीक़ों से धन बनाने में लग जाते हैं जिन्हें जायज़ नहीं कहा जा सकता । ओंकारनाथ पत्रकार हैं जो अपने संपादकीय लेखों में आग उगल सकते हैं । लेकिन यही आग उगलने वाला राष्ट्रवादी, बुनियादी रूप में स्वार्थी है जिसके लिए राष्ट्रवाद अपने स्वार्थ पूरे करने का साधन है ।

'गोदान' में जिसका मूल विषय शोषण है, ऐसे संसार का चित्रण किया गया है जिसमें सिवाय दुःख और उदासी के और कुछ नहीं है । इस उपन्यास में प्रेमचन्द भावनाओं में नहीं बहे । उपन्यास में उन्होंने कोई सरल समाधान भी प्रस्तुत नहीं किए हैं । 'गोदान' में "खलनायकों" का अचानक हृदय परिवर्तन नहीं होता । दरअसल, इस उपन्यास में कोई खलनायक है ही नहीं । यहां व्यक्तियों की दुष्टता उन्हीं के ग़रीब इन्सान भाइयों के उत्पीड़न और शोषण का कारण नहीं है, बल्कि शोषण समाज के भीतर की कुछ सामाजिक-आर्थिक एवं राजनीतिक व्यवस्था का परिणाम है । प्रभावशाली वर्गों में अगर कुछ लोग व्यक्तिगत रूप से अच्छे और दयावान हों भी तो उनके द्वारा उत्पीड़ित वर्गों के साथ कुछ बेहतर सुलूक नहीं होगा । राय साहब जो स्वयं एक दयालु ज़मींदार हैं, इस तथ्य को समझ चुके हैं, वे कहते हैं, "मैं खुद सद्भावना करते हुए भी स्वार्थ नहीं छोड़ सकता और चाहता हूँ कि हमारे वर्ग को शासन और नीति के बल से अपना स्वार्थ छोड़ने के लिए मजबूर कर दिया जाए ।" स्वाभाविक रूप से राय साहब जो बात नहीं देख सके, वह यह कि समस्या का वास्तविक समाधान उनके वर्ग (ज़मींदार वर्ग) पर दबाव डालना नहीं, बल्कि वर्ग को मूलतः समाप्त कर देना और हर 'किसान' को ज़मीदार बना देना है । 'गोदान' के सारे तर्क इसी समाधान की ओर इशारा करते हैं । यद्यपि यह एक सशक्त उपन्यास है किन्तु इसमें समाधान नहीं दिये गये हैं ।

'गोदान' में आगे यह बताने का प्रयास किया गया है कि एक शोषक वर्ग के रूप में ज़मीदार अकेले ही नहीं हैं । वास्तविकता यह है कि वे एक जटिल, विस्तृत शोषण जाल का हिस्सा हैं, जिसमें व्यापारियों, उद्योगपतियों और ज़मीदारों का स्वार्थ छिपा हुआ है । यह भी सच है कि इस जाल को मौजूदा राजनीतिक व्यवस्था का समर्थन प्राप्त है । ऐसा नहीं है कि इनके आर्थिक हित आपस में

टकराते नहीं हैं । लेकिन इस टकराव के बावजूद वे इतनी समझ रखते हैं कि अपने प्रभुत्व के लिए ख़तरा पैदा करने वाली शक्तियों के विरुद्ध संयुक्त मोर्चा तैयार करें । इस प्रकार किसानों और मज़दूरों का निरंतर उत्पीड़न एवं शोषण होता रहा ।

इस तरह 'गोदान' अपनी तमाम जटिलताओं के साथ वर्ग एवं राष्ट्र के दोहरे चरित्र को उजागर करता है। राष्ट्र के लिए स्वाधीनता अति आवश्यक है । लेकिन यह स्वाधीनता प्रमुख वर्ग द्वारा समाज के दीन-हीन लोगों के शोषण की आज़ादी नहीं होनी चाहिए । राष्ट्रवाद का यह अर्थ नहीं होना चाहिए कि देशभक्ति जैसे आदर्शवाद के नाम पर गिने-चुने लोग, बहुसंख्यक लोगों के हितों को क्षति पहुंचाकर अपने हित सिद्ध करें ।

वर्ग एवं राष्ट्र के दोहरे चरित्र को समझने में रूसी क्रांति के बाद समाजवादी विचारों के बढ़ते हुए प्रभाव ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी । इस तरह अपने उपन्यास 'प्रेमाश्रम' में जो उन्होंने रूसी क्रांति के एक वर्ष बाद लिखना आरंभ किया, प्रेमचंद ने रूसी क्रांति से प्रेरित बलराज को एक क्रोधी युवा ग्रामीण के रूप में दिखाया है । बलराज अपने ग्रामीण साथियों को रूस का उदाहरण देते हुए अन्याय और उत्पीड़न के विरुद्ध संघर्ष करने के लिए कहता है और उन्हें बताता है कि "रूस में काश्तकारों का राज है, वे जो चाहते हैं, करते हैं" ।

यद्यपि राष्ट्र एवं वर्ग के बीच की द्वैत भावना को प्रकाश में लाया गया है लेकिन यह समझना कठिन था कि इस द्वैत से कैसे निबटा जाए । यह देखते हुए कि भारत एक ऐसी साम्राज्यवादी शक्ति के विरुद्ध संघर्ष कर रहा था जिसकी जड़ें बहुत गहरी थीं, इसलिए भारतीय समाज के सभी वर्गों का संयुक्त मोर्चा होना आवश्यक था । अतः यह ज़रूरी हो गया कि निहित स्वार्थों के साथ किसी न किसी प्रकार का समझौता कर लिया जाए । साथ ही यह प्रश्न भी था कि कौन-सी विचारधारा अपनायी जाए । यदि समाजवादी विचार वर्ग हितों की प्राप्ति के लिए संघर्ष का रास्ता सुझाते थे तो दूसरी ओर गांधीवाद ट्रस्टीशिप और हृदय परिवर्तन का रास्ता दिखाते थे । यदि प्रेमचंद की कृतियां उनके युग का दर्पण हैं जो कि वास्तव में वे थीं, इनसे यह परिलक्षित होता है कि स्वतंत्रता संग्राम के दौरान कोई स्पष्ट विचारधारा नहीं अपनायी गयी थी । उदाहरण के लिए प्रेमचंद जब गोदान की रचना कर रहे थे, जो एक ऐसा उपन्यास है, जिसमें व्यक्तिविशेष की सज्जनता और हृदय परिवर्तन जैसे मतों की निरर्थकता प्रदर्शित की गयी है, उन्हीं दिनों उन्होंने एक ऐसा पत्र लिखा जो कि इस महान उपन्यास की मूल भावना के प्रतिकूल है । उन्होंने लिखा, "क्रांति संयत साधनों की पराजय है……निर्णायक तत्व जनता का चरित्र होता है । कोई समाज व्यवस्था तब तक फल-फूल नहीं सकती जब तक कि प्रत्येक व्यक्ति का उद्धार नहीं होता । क्रांति के बाद हमारा क्या हश्र होगा यह संदेहास्पद है । हो सकता है कि यह हमें निकृष्टतम अधिकनायकतंत्र की ओर ले जाए जो हमारी सारी वैयक्तिक स्वतंत्रता से हमें वंचित कर दे । मैं सुधार चाहता हूँ, विनाश नहीं" । अपने अधिकांश शिक्षित समकालीन व्यक्तियों की भांति प्रेमचंद भी दो प्रतिकूल विचारधाराओं के बीच बंटे रहे और किसी एक का चुनाव करने में असमर्थ रहे ।

इस संदर्भ में, अनेक विद्वानों का मत है कि प्रेमचंद आरंभ में गांधी जी के प्रभाव में रहने के बाद अन्त में उन्होंने परिवर्तनवादी विचारधारा को स्वीकार कर लिया लेकिन इसके विपरीत अन्य विद्वानों का मत है कि प्रेमचंद अंत तक गांधीवादी ही रहे । ये दोनों ही प्रयास अत्यंत जटिल ऐतिहासिक परिस्थिति का सरलीकरण हैं । इसकी पुष्टि में हम बंगाल के "कलोल" समूह द्वारा रचित साहित्य का उदाहरण ले सकते हैं । "कलोल" एक ऐसा साहित्यिक समूह था जिसके सदस्यों में काज़ी नज़रुल इस्लाम जैसे विख्यात उग्र राष्ट्रवादी कवि शामिल थे । प्रगतिशील और यथार्थवादी विचारों वाले इन साहित्यकारों ने सोच-समझकर खुद को समाज के सुविधा संपन्न वर्गों के जीवन की उपेक्षा करके उत्पीड़ित और सुविधाओं से वंचित वर्ग को अपनी कृतियों का विषय बनाया । उनका विद्रोह का स्वर प्रेमचंद की अपेक्षा अधिक मुखर था लेकिन फिर भी वे अपनी सामाजिक पृष्ठभूमि से स्वयं को पूर्णतः अलग न कर सके और किसी स्पष्ट विचारधारा को प्रस्तुत करने में असफल रहे ।

इस संदर्भ में, विख्यात बंगाली उपन्यासकार शरत्चन्द्र चट्टोपाध्याय (1876-1938) का उदाहरण भी काफ़ी महत्व रखता है । शरत्चंद्र ने महिलाओं की दारुण दशा को भावपूर्ण एवं यथार्थवादी ढंग से चित्रित किया तथा समाज के मध्यमवर्ग में मान्य कुछ मूल्यों पर प्रश्न चिन्ह लगाया । प्रेमचंद की भांति ही शरत्चंद्र की भी सहानुभूति कांग्रेस के साथ थी । वे गांधीजी के प्रशंसक थे तथा देशबंधु चितरंजन दास के साथ उनके निजी संबंध थे। प्रेमचंद के विपरीत शरत्चन्द्र कांग्रेस के सदस्य भी थे। फिर भी उन्होंने 'पाथेर दासी' (1926) जैसा उपन्यास लिखा जिसमें उन क्रांतिकारियों को आदर्श रूप में प्रस्तुत किया गया जो देश की मुक्ति के लिए क्रांतिकारी हिंसा का रास्ता अपना रहे थे । उल्लेखनीय है कि इस उपन्यास पर सरकार ने प्रतिबंध लगा दिया था । गांधी जी के प्रशंसक और

कांग्रेस के एक सदस्य होकर भी हिंसा के रास्ते की सराहना करना, अपने आपमें विरोधी कित महत्वपूर्ण है । शरत्चन्द्र के राजनीतिक दृष्टिकोण में और भी विरोधाभास नज़र आते हैं । 1929–1931 के बीच उन्होंने "विप्रदास" की रचना की जो धारावाहिक रूप में प्रकाशित हुआ । यह वह दौर था जिस समय कांग्रेस ने पूर्ण स्वराज का अपना लक्ष्य तय किया और सविनय अवज्ञा आन्दोलन आरंभ किया । इन घटनापूर्ण वर्षों में लिखा गया उपन्यास 'विप्रदास' एक ऐसे ज़मीदार की तस्वीर प्रस्तुत करता है जो अपनी रैयत द्वारा इस हद तक पूजा जाता है कि रैयत, राष्ट्रवादी आह्वानों के प्रति कोई प्रतिक्रिया नहीं दिखाती ।

5. शरत्चन्द्र

इस विरोधाभास के परिप्रेक्ष्य में हमें साहित्य से अपने हाल ही के इतिहास के निर्माण पर नये सिरे से दृष्टिपात करना चाहिए । हमें यह स्वीकार करना चाहिए कि राजनीतिक पार्टियों और अन्य संगठनों के सुनियोजित कार्यक्रमों एवं घोषणाओं से हमें जो जानकारी मिलती है, उससे और अधिक गहराई में जाकर इस इतिहास निर्माण को देखना होगा, क्योंकि इन कार्यक्रमों एवं घोषणाओं की तह में जो खींचातानी और पूर्वाग्रह विद्यमान थे, उन पर जनसाधारण की नज़र हमेशा नहीं जाती थी । जैसा कि हमने देखा 'गोदान' का लेखक स्वयं ही अपने उपन्यास की क्रांतिकारी भावना के प्रति पूर्णतः सचेत न था अन्यथा वह उदाहरण रूप में प्रस्तुत किए गये पत्र में क्रांति की संकल्पना के विरुद्ध जोरदार तर्क नहीं करता । इसी प्रकार साहित्य के ज़रिए प्रगतिशील विचारों को बढ़ावा देने के उद्देश्य से प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना की गयी तो उसके प्रथम सत्र (1936) में प्रेमचंद से अध्यक्षता करने का आग्रह किया गया जबकि, जैसा हमने देखा, प्रेमचंद वर्ग संघर्ष की संकल्पना के समर्थक नहीं थे । ऐसा समझना इतिहास के साथ अन्याय होगा कि चूँकि प्रेमचंद ने प्रगतिशील लेखक संघ के प्रथम सत्र की अध्यक्षता की, अतः वे प्रगतिशील ही रहे होंगे । यह रवैया केवल व्यक्तियों तक ही सीमित नहीं था जैसा कि हमने प्रेमचंद के उदाहरण से देखा, बल्कि आन्दोलनों पर लागू होता था । कोई भी आंदोलन अपने सदस्यों के प्रभाव से मुक्त नहीं होता । आन्दोलन स्पष्ट सिद्धान्त एवं उद्देश्य रख सकता है तथा समाज के अन्य आन्दोलनों एवं संगठनों से स्वयं को अलग कर सकता है । लेकिन यह

निश्चित कर पाना अत्यन्त दुष्कर होता है कि इसके सभी अनुयायी इसके उद्‌देश्यों एवं सिद्धान्तों का पूरी तरह पालन करें । किसी भी आन्दोलन में शरीक व्यक्ति अन्य बाह्‌यगत प्रभावों को भी ग्रहण करते हैं ।

स्वतंत्रता आन्दोलन के अंतिम तीस वर्षों के साहित्य से हमें ज्ञात होता है कि इन महत्वपूर्ण वर्षों के दौरान जनसाधारण सामाजिक-आर्थिक मुद्‌दों के प्रति निरंतर सचेत हो रहे थे और स्वतंत्रता की ललक उनमें बड़ी तेज़ी से बढ़ती जा रही थी । वे विभिन्न, यहां तक कि विपरीत दृष्टिकोण वाली विचारधाराओं के प्रभाव में आ रहे थे । दरअसल वे इन विचारधाराओं के विरोधी स्वरूप को हमेशा पहचान नहीं पाते थे । हमने प्रेमचंद पर इतने विस्तार से चर्चा इसीलिए की क्योंकि उनके जीवन एवं कृतियों, दोनों से ही इस तथ्य का संकेत मिलता है कि विरोधी विचारधाराएं अपना प्रभाव समाज पर छोड़ रही थीं और इस दौर के सबसे संवेदनशील एवं बुद्धिमान स्त्री-पुरुष भी इन विचारधाराओं में से किसी एक का चुनाव कर पाने की स्थिति में नहीं थे । यदि अपने समकालीन अन्य व्यक्तियों की भांति ही प्रेमचंद पर भी गांधीवादी एवं समाजवादी दोनों ही प्रभाव देखने को मिलते हैं, अथवा एक ओर वे राष्ट्रीय आन्दोलन का निराशाजनक चित्रण प्रस्तुत करते हैं और दूसरी ओर उसी आन्दोलन का मार्मिक चित्रण करते हैं तो ऐसी स्थिति में इतिहासकार से यह अपेक्षित नहीं होता कि वह यह मानकर चले कि इन दो विरोधी परिस्थितियों में से एक परिस्थिति सही हो सकती है । वरन् इतिहासकारों को इन परस्पर विरोधी रुखों को एक समग्र जटिल स्थिति के अंगों के रूप में देखना चाहिए । इतना ही नहीं इतिहासकारों को इन वैचारिक मतभेदों के पीछे उन सामाजिक, आर्थिक शक्तियों का हाथ भी देखना चाहिए जो नहीं चाहते कि यह विरोध समाप्त हो । जैसाकि 'कर्मभूमि', 'रंगभूमि' और 'गोदान' के उदाहरणों से स्पष्ट है, समकालीन साहित्य, इतिहासकार को विचारधारा एवं भौतिक हितों के द्वंद्वात्मक परिचालन को देखने की अंतर्दृष्टि प्रदान करता है ।

स्वतंत्रता आन्दोलन को गति देने वाली शक्तियों के एक-दूसरे को प्रभावित करने वाली जटिल प्रक्रिया को समझने के लिए महान बंगाली उपन्यासकार ताराशंकर बंद्योपाध्याय (1898–1971) की 1947 से पूर्व की रचनाओं पर दृष्टि डालना काफी उपयोगी होगा । विशेषकर उनके तीन उपन्यास, "धर्त्रीदेवता" "गणदेवता" और "पंचग्राम" काफी महत्वपूर्ण हैं । 'धत्रीदेवता' एक अर्धआत्म कथात्मक उपन्यास है जिसे 'गणदेवता' और 'पंचग्राम' की आधारिक पूर्व तैयारी के रूप में देखा जा सकता है जोकि दरअसल एक ही उपन्याम के दो भाग हैं । महाकाव्य के आयामों को लिए हुए 'गणदेवता' और 'पंचग्राम' उपन्यास में शोषण एवं औद्योगीकरण के कारण ग्रामीण समाज का विघटन दिखाना मुख्य उद्‌देश्य है । ताराशंकर व्यक्ति विशेष पर अधिक ध्यान नहीं देते । उनका विषय समाज और समुदाय है । स्वाभाविक है कि स्वतंत्रता आन्दोलन भी सामाजिक जीवन को प्रभावित करता है । कांग्रेस, मुस्लिम लीग और क्रांतिकारी, समाज में प्रकट होते हैं । जिनमें कांग्रेस एवं मुस्लिम लीग क्रांतिकारियों की अपेक्षा अधिक प्रभावपूर्ण ढंग से प्रकट होते हैं हमें बृहत् ऐतिहासिक शक्तियों के आधारिक स्तर से उठने का संकेत मिलता है । आदर्श, शक्ति एवं आर्थिक हित विभिन्न अनुपात में मिलकर पांच गांवों के लोगों की नियति को प्रभावित करते हैं जो 'गणदेवता' और 'पंचग्राम' का घटनास्थल है । जिस प्रकार 'गोदान' में दो गांवों तथा 'रंगभूमि' में केवल एक गांव के द्वारा पूरे ग्रामीण समाज की दुखद नियति का चित्रण किया गया है, इसी प्रकार ताराशंकर ने इन पांच गांवों के द्वारा बड़े ही संवेदनशील तरीके से स्वतंत्रता संग्राम के समय के भारत का वर्णन गांवों के अधिकार रहित एवं वंचित वर्ग को केन्द्र में रखते हुए विस्तारपूर्वक किया है ।

अपनी तमाम संवेदनशीलता एवं वस्तुनिष्ठता के बावजूद ताराशंकर अपने इन तीन उपन्यासों में किसी प्रकार के वैचारिक ज्वार में उलझे नज़र आते हैं जिसके विषय में हमने पिछले पृष्ठों में चर्चा की है । उन्होंने ग्रामीण समाज के निर्धन वर्ग के बढ़ते हुए उत्पीड़न के विषय में बड़े भावपूर्ण ढग से लेखनी उठायी । उन्होंने इस उत्पीड़न के विरुद्ध निर्धन ग्रामीणों के संघर्ष का भी वर्णन किया है, यह संघर्ष जिसे अंततः असफल ही होना है, केवल इसलिये नहीं कि प्रभावी वर्ग शक्तिशाली है बल्कि इसलिये भी कि औद्योगीकरण की व्यापक वास्तविकता के समक्ष ग्रामीण सामाजिक जीवन और अर्थव्यवस्था टिकी नहीं रह सकती । किन्तु उत्पीड़ित और निर्धन वर्ग के प्रति इस सहानुभूति के साथ-साथ ताराशंकर की सहानुभूति उस संस्कृति के साथ भी स्पष्ट दिखायी देती है जो कि व्यवस्था के साथ जुड़ी हुई थी और अपने विघटन के दौर में थी । दूसरे शब्दों में, ताराशंकर ने इन उपन्यासों में अव्यक्त वैचारिक परिवर्तनवाद के साथ-साथ अव्यक्त सामाजिक रूढ़िवाद का सहअस्तित्व दिखाया है । ऐसा नहीं है कि समकालीन साहित्य में स्पष्ट वैचारिक विकल्प नज़र नहीं आता । महान साहित्यकार एवं कवि रवीन्द्रनाथ टैगोर (1861-1941) ने अपने उपन्यास 'चार अध्याय' (1934) में क्रांतिकारी हिंसा की बड़े ही स्पष्ट शब्दों में भर्त्सना की है लेकिन ध्यान रहे कि इस उपन्यास में टैगोर अपने सृजन के शिखर पर नहीं पहुंचे थे । अधिक से अधिक इस कृति को एक प्रकार का राजनीतिक घोषणा-पत्र कहा जा सकता है जोकि कथात्मक शैली में लिखा गया था । इसी प्रकार इस समय के संभवतः सबसे

अधिक लोकप्रिय गुजराती उपन्यासकार रमनलाल वसन्तलाल देसाई (1892-1954) ने अपने उपन्यास "दिव्य चक्षु" (1932) में क्रांतिकारी नायक अर्जुन का सम्पूर्ण परिवर्तन दिखाया है । वह हिंसा का रास्ता छोड़कर गांधीवाद की ओर आकृष्ट होता है लेकिन "चार अध्याय" की तरह "दिव्य चक्षु" प्रतिनिधि उपन्यास नहीं कहा जा सकता । इसके अतिरिक्त टैगोर के विपरीत, रमनलाल देसाई ऐसे उपन्यासकार नहीं थे जो समाज और जीवन की गूढ़ताओं को सुलझा सकें ।

6. रवीन्द्रनाथ टैगोर

समकालीन गुजराती साहित्य में कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी एक अन्य प्रतिनिधि साहित्यकार हैं जो रमनलाल देसाई से पांच वर्ष पूर्व पैदा हुए और स्वतंत्र भारत में कई वर्षों तक जीवित रहे । मुंशी एक प्रमुख वकील, साहित्यकार और साथ ही कांग्रेस के सदस्य भी थे । एक प्रमुख कांग्रेसी नेता के रूप में मुंशी धर्म-निरपेक्ष विचारधारा के समर्थक थे । लेकिन वस्तुतः उनके सभी उपन्यास न केवल गौरवशाली हिन्दी अतीत का चित्रण करते हैं बल्कि भारतीय राष्ट्रवाद के हिन्दूवादी पक्ष को प्रोत्साहित करते है ।

बोध प्रश्न 2

1) निम्नलिखित वक्तव्य पढ़ें और उनके सामने सही (√) अथवा ग़लत (×) का निशान लगायें ।
   i) भारत में साहित्य ने स्वतंत्रता के तमाम पहलुओं को स्पष्ट रूप में उजागर किया । ☐
   ii) "गोदान" केवल स्वाधीनता के प्रश्न से संबंधित उपन्यास है । ☐
   iii) "प्रेमाश्रय" का सृजन रूसी क्रांति के उदाहरण से प्रेरित होकर किया गया था । ☐
   iv) यद्यपि शरत्चंद्र चट्टोपाध्याय गांधीजी के प्रशंसक थे, तथापि उन्होंने कभी-कभी उन लोगों को आदर्श के रूप में चित्रित किया जो क्रांतिकारी हिंसा में विश्वास रखते थे । ☐

2) प्रेमचंद की साहित्यिक रचनाओं के राजनीतिक योगदान पर दस पंक्तियाँ लिखिए ।

....

....

....

....

....

....

....

....

....

....

3) निम्नलिखित के जोड़े बनाइये ।

i) अ) छे माण आठगुन्ठ	अ) शरत्चन्द्र चट्टोपाध्याय
ii) ब) कर्मभूमि	ब) ताराशंकर बन्दोपाध्याय
iii) स) विप्रदास	स) फकीर मोहन सेनापति
iv) द) गणदेवता	द) प्रेमचन्द

23.4 सारांश

स्वतंत्रता संग्राम के दौरान भारतीय साहित्य के संक्षिप्त खाके में हमने जानबूझकर स्वतंत्रता आन्दोलन के उन पहलुओं की चर्चा की जिनको समझने के लिए साहित्यिक वर्गीकरण से हट जाना आवश्यक है । विरोधी शक्तियों की अन्योन्य क्रिया से संबंधित जो चर्चा हमने स्वतंत्रता आन्दोलन के विषय में की वह पूरे आधुनिक भारतीय समाज के संदर्भ में खरी उतरती है । दूसरे शब्दों में, ऐसा नहीं है कि एक व्यक्ति अथवा एक समूह धर्म-निरपेक्ष, प्रगतिशील और राष्ट्रवादी है, जबकि दूसरा व्यक्ति अथवा समूह प्रतिक्रियावादी और साम्प्रदायिक । हमारे समाज और इसमें रहने वाले लोगों को ऐसे निश्चित वर्गीकरण करने की गुंजाइश नहीं है । यह एक ऐसा सबक है जो साहित्य ही सबसे अच्छे ढंग से हमें पढ़ा सकता है । इतिहासकारों और अन्य सामाजिक वैज्ञानिकों को इस सबक से काफी लाभ हो सकता है ।

23.5 शब्दावली

ऐतिहासिक प्रेमाख्यान : ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में रखी गयी कथात्मक कृति ।

धार्मिक राष्ट्रवादी : वे लोग जिन्होंने देशभक्ति की प्रेरणा अपने धर्म से ली ।

साहित्यिक देशभक्ति : देशभक्तिपूर्ण विचारों की अभिव्यक्ति के लिए साहित्य को माध्यम बनाना ।

आर्थिक राष्ट्रवाद : उन्नीसवीं शताब्दी के नेताओं और बुद्धिजीवियों द्वारा अंग्रेजी शासन की आर्थिक आलोचना के माध्यम से भारतीय राष्ट्रवाद की आर्थिक बुनियाद तैयार करने का प्रयास ।

23.6 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1 i) √ ii) √ iii) × iv) √

2 i) बंकिम चन्द्र चट्टोपाध्याय ii) 1882 iii) आर. सी. दत्त iv) भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

3 i) अ - द ii) ब - स iii) स - अ iv) द - ब

बोध प्रश्न 2

1) i) × ii) × iii) √ iv) √

2) आप अपने उत्तर में निम्नलिखित का उल्लेख करें ।

अ) प्रेमचन्द ने अपनी साहित्यिक कृतियों में स्वतंत्रता संघर्ष पर बल दिया ।

ब) उनके उपन्यासों के पात्रों द्वारा राजनीतिक विचारधारा के चुनावों एवं दिए गए वक्तव्य, तथा

स) उनका अपना राजनीतिक वैचारिक ज्ञान ।

3) i) अ - स ii) ब - द iii) स - अ iv) द - ब ।